

महावीर वन्दना

जो मोह माया मान मत्सर, मदन मर्दन वीर हैं ।
जो विपुल विघ्नों बीच में भी, ध्यान धारण धीर हैं ॥
जो तरण-तारण, भव-निवारण, भव जलधि के तीर हैं ।
वे वंदनीय जिनेश, तीर्थकर स्वयं महावीर हैं ॥

जो राग-द्वेष विकार वर्जित, लीन आतम ध्यानमें ।
जिनके विराट् विशाल निर्मल, अचल केवलज्ञान में ॥
युगपद् विशद सकलार्थ झलकें, ध्वनित हो व्याख्यान में ।
वे वर्द्धमान महान जिन, विचरें हमारे ध्यान में ॥

जिनका परम पावन चरित, जलनिधि समान अपार है ।
जिनके गुणों के कथन में, गणधर न पावें पार है ॥
बस वीतराग-विज्ञान ही, जिनके कथन का सार है ।
उन सर्वदर्शी सन्मती को, वंदना शत बार है ॥

जिनके विमल उपदेश में सबके उदय की बात है ।
समभाव समताभाव जिनका, जगत में विख्यात है ॥
जिसने बताया जगत को, प्रत्येक कण स्वाधीन है ।
कर्ता न धर्ता कोई है, अणु-अणु स्वयं में लीन है ॥

आतम बने परमात्मा, हो शान्ति सारे देश में ।
है देशना सर्वोदयी, महावीर के सन्देश में ॥

- डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ

मैं हूँ अपने में स्वयं पूर्ण,
पर की मुझ में कुछ गन्ध नहीं ।
मैं अरस, अरूपी, अस्पर्शी,
पर से कुछ भी सम्बन्ध नहीं ॥

मैं रंग-राग से भिन्न, भेद से,
भी मैं भिन्न निराला हूँ ।
मैं हूँ अखण्ड, चैतन्यपिण्ड,
निज रस में रमने वाला हूँ ॥

मैं ही मेरा कर्ता-धर्ता,
मुझ में पर का कुछ काम नहीं ।
मैं मुझ में रहने वाला हूँ,
पर में मेरा विश्राम नहीं ॥

मैं शुद्ध, बुद्ध, अविरुद्ध, एक
पर-परिणति से अप्रभावी हूँ ।
आत्मानुभूति से प्राप्त तत्त्व,
मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ ॥

- डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ एक अनुशीलन

लेखक

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., पी-एच.डी., डी-लिट्

प्रकाशक

पण्डित टोडरमल सर्वोदय ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२ ०१५

फोन : ०१४१-२७०७४५८, २७०५५८१

E-mail : ptstjaipur@yahoo.com

मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ : एक अनुशीलन : डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

प्रथम संस्करण : 5 हजार
(11 मई 2015 ई.)

द्वितीय संस्करण : 5 हजार
(25 दिसम्बर, 2015 ई.)

कुल : 10 हजार

मूल्य : 5 रुपये

टाइपसैटिंग :
त्रिमूर्ति कम्प्यूटर्स,
ए-4, बापूनगर, जयपुर

मुद्रक :
रैनवो ऑफसेट प्रिंटर्स
बाईस गोदाम, जयपुर

विषय-सूची

1. मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ	9
2. पहला छन्द	14
3. दूसरा छन्द	21
4. तीसरा छन्द	32
5. चौथा छन्द	40

प्रकाशकीय

सुप्रसिद्ध मनीषी डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल की यह “मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ : एक अनुशीलन” कृति इस मायने में सबसे अलग है कि इसमें स्वयं के द्वारा लिखित गीत का अनुशीलन किया गया है।

अबतक आपने जितने भी अनुशीलन किये, वे सब आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों पर लिखे गये हैं। बारह भावना : एक अनुशीलन में भी अनेक आचार्यों और विद्वानों की कृतियों को आधार बनाया गया है; पर यह एक ऐसी कृति है कि जिसमें अन्य किसी की कृति को आधार नहीं बनाया गया है। इस अर्थ में यह एकदम मौलिक है।

“मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ – यह गीत ई. सन् १९६९ में लिखा गया था। कलेण्डर के आकार में प्रकाशित होकर तभी से यह घर-घर की शोभा बन रहा है। अनेक स्थानों पर मन्दिरों में लिखाया गया है। सम्मेशिखर की तेरापंथी कोठी के मन्दिर में यह संगमरमर के पाटिये पर उत्कीर्ण है।

यह अध्यात्मगीत स्थान-स्थान पर प्रवचन सभाओं के आदि में या अन्त में बोला जाता है।

सम्पूर्ण मुमुक्षु समाज में यह अत्यन्त लोकप्रिय है। इसका सामान्य भाव तो सभी मुमुक्षु भाई-बहिन अच्छी तरह समझते हैं; परन्तु जो गंभीर भाव इस गीत में समाहित है; उन भावों को भी जन-जन समझे – इस भावना से लिखे गये इस अनुशीलन में अनेक ऐसे तथ्य प्रस्तुत हुये हैं; जिन्हें समझना सामान्यजन की बात तो बहुत दूर वे विद्वानों की पकड़ से भी दूर हैं।

निश्चयनय की प्रमुखता से लिखे गये इस गीत में ‘मैं’ के रूप में परम शुद्धनिश्चयनय एवं परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत आत्मतत्त्व को प्रस्तुत किया गया है।

इस गीत में परमात्मा के नहीं, आत्मा के गीत गाये गये हैं, परमशुद्ध-निश्चयनय के विषयभूत परम आत्मा के गीत गाये गये हैं।

श्री पूरणचन्दजी गोदीका की प्रेरणा से लिखे गये इस गीत ने प्रसिद्ध आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के चित्त को भी आकर्षित किया था।

वे इस गीत की अनेक पंक्तियाँ बार-बार अपने प्रवचनों में उद्धृत करते थे। यह तो सर्वविदित ही है कि उनका भरपूर मंगल आशीर्वाद डॉ. भारिल्ल को उपलब्ध रहा है।

इस गीत पर मुग्ध होकर मैंने डॉ. भारिल्ल से पूँछा कि यह गीत आपने अपने मन से लिखा है कि इसका कोई शास्त्राधार भी है। वे बोले - मन से तो लिखा ही है; पर समयसार का आधार तो है ही। समयसार की अनेक गाथाओं में इस गीत के भाव प्रस्तुत किये गये हैं।

इसप्रकार मेरी दृष्टि में यह एक लघु समयसार ही है।

डॉ. भारिल्लजी की प्रत्येक साहित्यिक कृति प्रकाशन के पूर्व ही पढ़ने की मेरी आदत है। तदनुसार इसे भी मैंने प्रूफ अवस्था में ही पढ़कर आनन्द लिया है।

डॉ. भारिल्लजी अपने स्वास्थ्य की परवाह न करते हुए भी निरन्तर अभीक्षण ज्ञानोपयोग में मग्न रहते हैं। फलस्वरूप अनेक अनमोल कृतियों का जन्म उनकी कलम से हो रहा है। प्रस्तुत कृति भी श्रुत सेवी डॉ. भारिल्ल की साहित्य आराधना का फल है। इसके लिए हम ट्रस्ट की ओर से भारिल्लजी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

पुस्तक की कीमत कम करने में जिन महानुभावों का आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है, उनके हम आभारी हैं। उनके नाम यथास्थान दिये गये हैं।

सदैव की भाँति पुस्तक की मुद्रण व्यवस्था विभाग के प्रभारी श्री अखिल बंसल ने बखूबी सम्हाली है अतः हम उनके भी आभारी हैं।

श्री कैलाशचन्दजी शर्मा ने कंपोज का कार्य किया है, वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

आप सभी प्रस्तुत प्रकाशन के माध्यम से अपने ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा के स्वरूप को समझकर स्वकल्याण का मार्ग प्रशस्त करें - इसी भावना के साथ -

ब्र. यशपाल जैन, एम.ए.

प्रकाशनमंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ पुस्तक की कीमत कम करनेवाले दातारों की सूची

1. श्रीमती आशा राजेशजी सौगानी, कोटा	2,100.00
2. श्री प्रेमचन्दजी बजाज, कोटा	2,100.00
3. कु. तात्या जैन, कोटा	2,100.00
4. श्रीमती राजमतीजी बज, कोटा	1,100.00
5. श्रीमती आशा ध.प. महेशजी कोटा	1,100.00
6. श्री लवलेशजी, कोटा	1,100.00
7. श्रीमती शोभा ध.प. अविनाशजी जैन, कोटा	1,100.00
8. श्रीमती आशा लाभचन्दजी जैन, कोटा	1,100.00
9. श्रीमती कविता कैलाशजी जैन, कोटा	1,100.00
10. श्री ज्ञानचन्दजी जैन, कोटा	1,100.00
11. श्री भानुकुमारजी पाटनी, कोटा	1,100.00
12. श्री राजेन्द्रकुमारजी भडाना, कोटा	1,100.00
13. गुप्तदान	1,100.00
14. श्री महेन्द्रजी अतुल शक्ति, कोटा	1,100.00
15. गुप्तदान	500.00
16. गुप्तदान	500.00
17. श्रीमती निर्मला बोरखंडिया, बूंदी	500.00
18. श्री लालचन्दजी जैन, कोटा	500.00
19. श्री ज्ञानचन्दजी बनयानी, कोटा	500.00
20. श्री विनयकुमारजी जैन, कोटा	500.00
21. श्री माणकचन्दजी कासलीवाल, कोटा	500.00

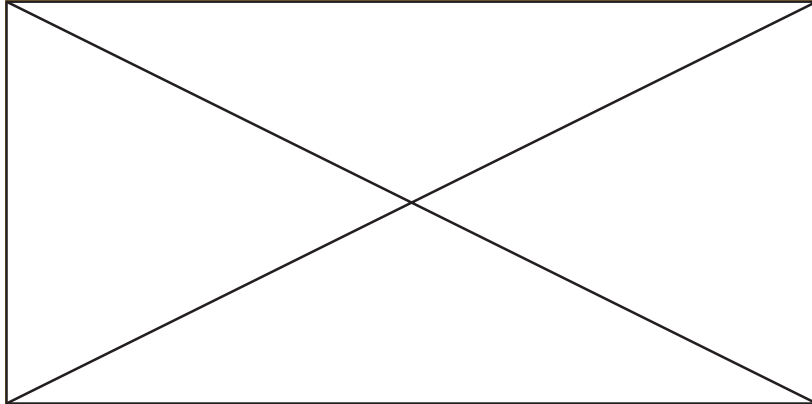
कुल 21,300.00

डॉ. भारिल्ल पर प्रकाशित साहित्य

१. तत्त्ववेत्ता डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल (अभिनंदन ग्रंथ)	१५०.००
२. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल : व्यक्तित्व और कृतित्व - डॉ. महावीरप्रसाद जैन	३०.००
३. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल और उनका कथा साहित्य - अरुणकुमार जैन	१२.००
४. डॉ. भारिल्ल के साहित्य का समीक्षात्मक अध्ययन - अखिल जैन बंसल	२५.००
५. गुरु की दृष्टि में शिष्य	५.००
६. मनीषियों की दृष्टि में : डॉ. भारिल्ल	५.००
७. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल के साहित्य का समालोचनात्मक अनुशीलन - डॉ. सीमा जैन	२५.००

प्रकाशनाधीन

५. शिक्षाशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल के शैक्षिक विचारों का समीक्षात्मक अध्ययन - नीतू चौधरी
७. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व - शिखरचन्द जैन
८. धर्म के दशलक्षण एक अनुशीलन - ममता गुप्ता



डॉ. भारिल्ल के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१. समयसार : ज्ञायकभावप्रबोधिनी टीका	५०.००
२-६. समयसार अनुशीलन भाग १ से ५	१२५.००
७. समयसार का सार	३०.००
८. गाथा समयसार	१०.००
९. प्रवचनसार : ज्ञानज्ञेयतत्त्वप्रबोधिनी टीका	५०.००
१०-१२. प्रवचनसार अनुशीलन भाग १ से ३	९५.००
१३. प्रवचनसार का सार	३०.००
१४. कुन्दकुन्द शतक अनुशीलन	२०.००
१५. नियमसार : आत्मप्रबोधिनी टीका	५०.००
१६-१७. नियमसार अनुशीलन भाग १ से ३	७०.००
१८. छहढाला का सार	१५.००
१९. मोक्षमार्गप्रकाशक का सार	३०.००
२०. वैराग्य	२५.००
२१. समयसार महामण्डल विधान	२५.००
२२. प्रवचनसार महामण्डल विधान	१०.००
२३. ४७ शक्तियाँ और ४७ नय	८.००
२४. पंडित टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तृत्व	२०.००
२५. परमभावप्रकाशक नयचक्र	४०.००
२६. चिन्तन की गहराइयाँ	३०.००
२७. तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ	२०.००
२८. धर्म के दशलक्षण	२०.००
२९. क्रमबद्धपर्याय	२०.००
३०. तत्त्वार्थमणिप्रदीप (पूर्वार्द्ध)	२०.००
३१. तत्त्वार्थमणिप्रदीप (उत्तरार्द्ध)	१०.००
३२. तत्त्वार्थमणिप्रदीप (सम्पूर्ण)	३०.००
३३. बिखरे मोती	१६.००
३४. सत्य की खोज	२५.००
३५. अध्यात्म नवनीत	१५.००
३६. आप कुछ भी कहो	१५.००
३७. आत्मा ही है शरण	१५.००
३८. सुक्ति-सुधा	१८.००
३९. बारह भावना : एक अनुशीलन	१६.००
४०. दृष्टि का विषय	१०.००
४१. गागर में सागर	७.००
४२. पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव	१२.००
४३. णमोकार महामंत्र : एक अनुशीलन	११.००
४४. रक्षाबन्धन और दीपावली	५.००
४५. आचार्य कुंदकुंद और उनके पंचपरमागम	५.००

४६. युगपुरुष कानजीस्वामी	५.००
४७. वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	१५.००
४८. मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ : एक अनुशीलन	५.००
४९. रहस्य : रहस्यपूर्ण चिट्ठी का	१०.००
५०. निमित्तोपादान	६.००
५१. अहिंसा : महावीर की दृष्टि में	५.००
५२. मैं स्वयं भगवान हूँ	५.००
५३. ध्यान का स्वरूप	४.००
५४. रीति-नीति	४.००
५५. शाकाहार	३.००
५६. भगवान ऋषभदेव	४.००
५७. तीर्थंकर भगवान महावीर	३.००
५८. चैतन्य चमत्कार	४.००
५९. गोली का जवाब गाली से भी नहीं	२.००
६०. गोमटेश्वर बाहुबली	२.००
६१. वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर	२.००
६२. अनेकान्त और स्याद्वाद	३.००
६३. शाश्वत तीर्थधाम सम्मोदशिखर	६.००
६४. बिन्दु में सिन्धु	२.५०
६५. मैं कौन हूँ	१०.००
६६. पश्चात्ताप खण्डकाव्य	१०.००
६७. बारह भावना एवं जिनेन्द्र वंदना	२.००
६८. कुंदकुंदशतक पद्यानुवाद	२.५०
६९. शुद्धात्मशतक पद्यानुवाद	१.००
७०. समयसार पद्यानुवाद	३.००
७१. योगसार पद्यानुवाद	०.५०
७२. समयसार कलश पद्यानुवाद	३.००
७३. प्रवचनसार पद्यानुवाद	३.००
७४. द्रव्यसंग्रह पद्यानुवाद	१.००
७५. अष्टपाहुड पद्यानुवाद	३.००
७६. नियमसार पद्यानुवाद	२.५०
७७. नियमसार कलश पद्यानुवाद	५.००
७८. सिद्धभक्ति	१०.००
७९. अर्चना जेबी	१.५०
८०. कुंदकुंदशतक (अर्थ सहित)	५.००
८१. शुद्धात्मशतक (अर्थ सहित)	५.००
८२-८३. बालबोध पाठमाला भाग २ से ३	७.००
८४-८६. वीतराग विज्ञान पाठमाला १ से ३	१४.००
८७-८८. तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १ से २	११.००
८९. भगवान महावीर और उनकी जन्मभूमि	३.००
९०. समाधिमरण या सल्लेखना	५.००
९१. ये है मेरी नारियाँ	५.००



ज्ञानानन्दात्मने नमः

मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ

मैं स्वयं भगवान आत्मा हूँ तथा ज्ञान और आनन्द मेरा स्वभाव है।

मेरा यह ज्ञानस्वभाव केवलज्ञान के समान अतीन्द्रिय है तथा आनन्दस्वभाव, सुखस्वभाव भी अरिहन्तों और सिद्धों के अनन्त सुख के समान अतीन्द्रिय है।

अतीन्द्रिय है का तात्पर्य यह है कि इसमें इन्द्रियों की आधीनता नहीं है। न ज्ञानस्वभाव इन्द्रियाधीन है और न आनन्दस्वभाव इन्द्रियाधीन है।

यद्यपि ये ज्ञान और आनन्द अतीन्द्रिय हैं; पर ये पर्यायरूप नहीं हैं, प्रगट नहीं हैं, प्रगटपर्यायरूप नहीं हैं, ये तो स्वभावरूप ही हैं।

ज्ञान और आनन्द आत्मा का अर्थात् मेरा स्वभाव है और मैं स्वभाववान हूँ। इसप्रकार मैं ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मतत्त्व हूँ।

आचार्यों का आदेश है कि प्रतिदिन प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्त में जागकर सबसे पहले पंचपरमेष्ठी का स्मरण कर स्वयं के बारे में सोचना चाहिये, आत्मस्वरूप का विचार करना चाहिये।

मैं कौन हूँ? मेरा स्वरूप क्या है? मैं कबसे हूँ, कबतक रहूँगा?

मेरा कौन है, मेरा कोई है भी या नहीं? क्या मेरा किसी से कोई सम्बन्ध नहीं है? यदि नहीं है तो क्यों नहीं है? यदि है तो कौन सा सम्बन्ध है?

मैं रहता कहाँ हूँ? मुझे कहाँ रहना चाहिये? मेरा काम क्या है? मैं क्या करता हूँ, क्या कर सकता हूँ, मुझे क्या करना चाहिये?

हमारे ज्ञान में स्वयं के संबंध में इसप्रकार के विचार प्रतिदिन जागने के साथ ही सहजरूप से उत्पन्न होना चाहिये ।

हमारे हृदय में इसप्रकार के विचार उठते हैं या नहीं? यदि नहीं उठते हैं तो उठने चाहिये और उनका समुचित समाधान खोजा जाना चाहिये ।

पण्डित आशाधरजी लिखते हैं -

ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय वृत्तपञ्चनमस्कृतिः ।

कोऽहं को मम धर्मः किं व्रतं चेति परामृशेत् ॥१॥^१

ब्रह्म मुहूर्त में उठकर पंचनमस्कार मंत्र को पढ़ने के बाद 'मैं कौन हूँ, मेरा धर्म क्या है, व्रत क्या है' - इसप्रकार विचार करें ।

श्रीमद् रायचन्द्रजी भी लिखते हैं -

मैं कौन हूँ? आया कहाँ से? और मेरा रूप क्या?

सम्बन्ध दुःखमय कौन है? स्वीकृत करूँ परिहार या ॥

इसका विचार विवेक पूर्वक शान्त होकर कीजिये ।

तो सर्व आत्मिक ज्ञान के, सिद्धान्त का रस पीजिये ॥

मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ और मेरा स्वरूप क्या है? इस बात का विचार प्रतिदिन शान्तभाव से विवेकपूर्वक करना चाहिये ।

आत्मार्थी के जीवन में इसप्रकार के प्रश्न प्रतिदिन उपस्थित होना ही चाहिये ।

इसीप्रकार का भाव वादीभसिंहसूरि अपरनाम आचार्य अजितसेन ने अपने क्षत्रचूड़ामणि (जीवन्धर चरित्र) नामक प्रथमानुयोग के ग्रन्थ में भी प्रगट किया है; जो इसप्रकार है -

कोऽहं कीदृग्गुणः क्वत्यः किं प्राप्यः किं निमित्तकः ।

इत्यूहः प्रत्यहं नो चेदस्थाने हि मतिर्भवेत् ॥७८॥

१. धर्माभूत (सागर) छठवाँ अध्याय छन्द-१

मैं कौन हूँ, मेरे गुण कैसे हैं, मैं कहाँ से आया हूँ, प्राप्त करने योग्य क्या है, निमित्त क्या है - इसप्रकार के विचार प्रतिदिन होना चाहिये। यदि इसप्रकार के विचार प्रतिदिन न हो तो उसकी बुद्धि अयोग्य स्थान में प्रवृत्त है या प्रवृत्त हो सकती है।

‘मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ’ यह अध्यात्म गीत उक्त जिज्ञासाओं का सहज समाधान है; उक्त प्रश्नों का सहज, सरल उत्तर है।

इस गीत में १. दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा का स्वरूप समझाया गया है। २. परमशुद्धनिश्चयनय का विषयभूत आत्मा का स्वरूप बताया गया है। ३. परमभावग्राही शुद्धद्रव्यार्थिकनय के विषयभूत अर्थ (पदार्थ) को प्रस्तुत किया गया है। ४. कर्मों के निरोधक ध्यान के ध्येय को स्पष्ट किया गया है।

इस गीत में आत्मा के ज्ञान और आनन्द - इन दो गुणों को आधार बनाया गया है। आत्मा के ज्ञानानन्दस्वभाव को स्पष्ट किया गया है।

जब सिद्धान्त की बात चलती है, परिभाषाओं की बात चलती है, तब आत्मा को ज्ञाता-दृष्टा आत्मराम कहा जाता है; पर अध्यात्म का प्रकरण हो तो दर्शन गुण का स्थान आनन्द गुण ले लेता है और वाणी में ‘मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ’ फूट पड़ता है।

जब आत्मानुभूति की बात हो तो फिर ज्ञाता-दृष्टा की अपेक्षा ‘मैं ज्ञानानन्दस्वभावी’ ही ठीक है।

‘मैं कौन हूँ, कैसा हूँ’ का सहज स्वभाविक उत्तर ‘मैं ज्ञानानन्द-स्वभावी’ ही ठीक है, समुचित है।

इस ‘ज्ञानानन्दस्वभावी’ गीत में परसे एकत्व-ममत्व छुड़ाया गया है, पर के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का निषेध किया गया है; सबसे सभी प्रकार के सम्बन्धों से इन्कार किया गया है।

बस, मैं तो मैं ही हूँ, और कुछ नहीं; यह कहा गया है।

सम्पूर्ण गीत इसप्रकार है -

मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ

मैं हूँ अपने में स्वयं पूर्ण,
पर की मुझ में कुछ गन्ध नहीं ।
मैं अरस, अरूपी, अस्पर्शी,
पर से कुछ भी सम्बन्ध नहीं ॥१॥

मैं रंग-राग से भिन्न,
भेद से भी मैं भिन्न निराला हूँ ।
मैं हूँ अखण्ड, चैतन्यपिण्ड,
निज रस में रमने वाला हूँ ॥२॥

मैं ही मेरा कर्ता-धर्ता,
मुझ में पर का कुछ काम नहीं ।
मैं मुझ में रहने वाला हूँ,
पर में मेरा विश्राम नहीं ॥३॥

मैं शुद्ध, बुद्ध, अविरुद्ध, एक
पर-परिणति से अप्रभावी हूँ ।
आत्मानुभूति से प्राप्त तत्त्व,
मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ ॥४॥

इस गीत की लगभग प्रत्येक पंक्ति 'मैं' पद से आरंभ होती है ।

अन्त में पहले और तीसरे छन्द में नहीं, नहीं; तथा दूसरे और चौथे छन्द में 'हूँ' 'हूँ' आता है । दूसरे और चौथे छन्द में विधिपरक (पोजेटिव) बात है और पहले और तीसरे छन्द निषेधपरक (नेगेटिव) बात है । इस प्रकार इस गीत में मैं कैसा नहीं हूँ और कैसा हूँ - यह बताया गया है ।

इस गीत में मात्र आत्मा की बात नहीं है, अपने आत्मा की बात है । यहाँ यह नहीं कहा गया है कि आत्मा ज्ञानानन्दस्वभावी है, पर यह कहा गया है कि मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ । 'मैं' का अर्थ अपना आत्मा होता है । इस अन्तर को पहचानना चाहिये ।

यह अन्य पुरुष (थर्ड परसन) की बात नहीं है; अपितु यह उत्तम पुरुष (फर्स्ट परसन) की बात है। यह किसी अन्य की नहीं, अपनी बात चल रही है।

यह कोरी तत्त्वचर्चा नहीं है; जो एक कार्यक्रम बनकर रह जाती है। यह तो अपनी बात है, अपने घर की बात है; जो अपने में अपनेपन के साथ होना चाहिये।

यहाँ कोई और नहीं, और के लिये भी नहीं; यहाँ तो मैं, मेरे लिये और मेरी चर्चा कर रहा हूँ। यह 'मैं' एक पण्डित नहीं, सेठ नहीं, नेता नहीं, मनुष्य भी नहीं; यहाँ तो मैं एक ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मतत्त्व हूँ।

वैसे हमारे अनेक नाम रख लिये जाते हैं; पर उनसे क्या? वे नाम तो लोग अपने-अपने स्वार्थ से रख लेते हैं।

कविवर पण्डित दौलतरामजी ने ठीक ही लिखा है -

हम तो कबहुँ न निज घर आये।

पर घर फिरत बहुत दिन बीते, नाम अनेक धराये।

हम तो कबहुँ न निजघर आये।

जिसके दर पर गये, उसने एक नया नाम रख दिया। दुकानदार के पास गये तो उसने ग्राहक नाम रख दिया, वकील के पास गये तो वह क्लाइन्ट कहने लगा। डॉक्टर के पास गये तो उसने मरीज नाम रख दिया। क्या मैं मरीज हूँ, क्या मैं कहीं से भी मरीज जैसा लगता हूँ? इन धरे गये अस्थाई नामों से मुझे कुछ भी लेना-देना नहीं है।

नाम धराना कोई अच्छी चीज थोड़े ही है। नाम धराना हिन्दी भाषा का एक फ्रेज है; जो बदनाम होने के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। यह तो एक प्रकार की बदनामी ही है। पर के साथ सम्बन्ध जोड़ने से बदनामी ही होती है। जब पर से मेरा कोई संबंध है ही नहीं, तो फिर उसके सम्बन्ध में अधिक कुछ सोचने की आवश्यकता ही क्या है? ●



पहला छन्द

हाँ, तो मैं क्या हूँ? - इसके उत्तर में सबसे पहले कहा गया है कि -

मैं ज्ञानानन्दस्वभावी, आत्मतत्त्व हूँ।

कैसा हूँ? के उत्तर में कहा गया कि -

मैं हूँ अपने में स्वयं पूर्ण,

पर की मुझ में कुछ गन्ध नहीं।

मैं अरस, अरूपी, अस्पर्शी,

पर से कुछ भी सम्बन्ध नहीं ॥१॥

मैं तो स्वयं में स्वयं से ही परिपूर्ण तत्त्व हूँ। मुझमें किसी भी प्रकार का अधूरापन है ही नहीं।

स्वयं को संबोधित करते हुये किसी कवि ने लिखा है कि -

रे प्रभु! तू सब बाँते पूरा।

पर की आश करे क्यों मूरख तू काई बाँते अधूरा?

रे प्रभु! तू सब बाँते पूरा।

हे प्रभुता सम्पन्न आत्मन्! तू तो सभी बातों में परिपूर्ण है, पर की आशा क्यों करता है? अरे भाई तू किस बात में अधूरा है?

उक्त पद को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी रस ले-ले कर गाते थे, गाते-गाते भावविभोर हो जाते थे।

यह ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मगीत भी उन्हें बहुत पसन्द था। अपने प्रवचनों में इस गीत की हमेशा बहुत प्रशंसा किया करते थे।

श्रीमान् सेठ पूरणचन्दजी गोदीका ने तो मेरे पीछे पड़-पड़कर यह गीत लिखाया था। वे मुझसे बार-बार कहते थे कि एक ऐसा गीत

बनाओ, जिसमें आत्मा की ही बात हो। जैसे - मैं हूँ आत्मराम।

जब यह 'मैं ज्ञानानन्दस्वभावी' गीत बन गया तो वे प्रतिदिन की शास्त्रसभा में इसे भावविभोर होकर गाते थे और दिनभर गुन-गुनाया करते थे।

अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन ने तो इस गीत को अपना राष्ट्रीय गीत बना लिया है। वे अपने कार्यक्रमों का आरंभ इसी गीत से करते हैं और समापन भी इसी गीत से करते हैं।

जो कुछ भी हो - यह एक अत्यन्त लोकप्रिय आत्मगीत है; जो सम्पूर्ण मुमुक्षु समाज में बोला जाता है, गाया जाता है।

यह है भी अत्यन्त मार्मिक। अध्यात्मप्रेमियों के कण्ठ के हार इस गीत में आत्मा के स्वरूप को भलीभाँति स्पष्ट कर दिया गया है।

मैं अपने में परिपूर्ण तत्त्व हूँ। मुझसे किसी अन्य पदार्थ का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है; पर की मुझमें गंध तक नहीं है। स्पर्श, रस, गंध और रूप (वर्ण) - ये पुद्गल के गुण हैं। ये पुद्गल नामक द्रव्य में ही पाये जाते हैं। मैं पुद्गल द्रव्य से भिन्न पदार्थ हूँ; अतः इनका मुझमें होना संभव नहीं है।

समयसार गाथा ४९ में इस बात को बहुत विस्तार से स्पष्ट किया गया है; जो मूलतः पठनीय है। वहाँ अनेक बोलों से आत्मा अरस, अरूपी, अगंध और अस्पर्शी सिद्ध किया गया है।

१. पुद्गल का स्पर्श गुण आठ प्रकार का है - रूखा, चिकना, ठण्डा, गरम, हल्का, भारी, कोमल और कठोर। ये आठों स्पर्श आत्मा में नहीं हैं; इसलिये आत्मा अस्पर्शी है।

२. पुद्गल का रस गुण भी पाँच प्रकार का होता है - खट्टा, मीठा, चरपरा, कड़वा और कषायला। ये पाँचों रस आत्मा में नहीं हैं; इसलिये आत्मा अरस है।

३. इसीप्रकार पुद्गल का गंध गुण दो प्रकार का है - सुगंध

और दुर्गन्ध। ये दोनों आत्मा में नहीं हैं; इसलिये आत्मा अगंध स्वभावी है।

४. पुद्गल का रूप (वर्ण) गुण पाँच प्रकार का होता है – काला, पीला, हरा, लाल और सफेद। ये पाँचों रूप आत्मा में नहीं हैं; अतः आत्मा अरूपी है।

किसी भी परपदार्थ से जिसका कोई सम्बन्ध नहीं है; ऐसा मैं अपने आप में परिपूर्ण तत्त्व हूँ। यह अरस, अरूपी और अस्पर्शी तत्त्व पर की गंध से भी रहित है। पर की गंध से भी रहित होना – यह फ्रेज एक-दूसरे की अत्यन्त भिन्नता को बताता है।

सभी पौद्गलिक गुण-पर्यायों के अभाव से पुद्गल, जीव से पूर्णतः भिन्न है; इसलिए उसे अजीव कहते हैं।

यह अपना भगवान आत्मा न केवल सभी अजीव (पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश और काल) द्रव्यों से भिन्न है; अपितु अपने से भिन्न अन्य अनन्त जीवों से भी भिन्न है।

अपने से भिन्न परजीव भी अपने लिये अन्य परद्रव्यों के समान परद्रव्य ही हैं, पर ही हैं।

यह भगवान आत्मा पर पदार्थों से एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व – इन चार प्रकार से संबंध स्थापित करता है।

स्त्री-पुत्र, मकान, जायजाद, रुपया पैसा आदि पर पदार्थों को १. ये मैं हूँ – ऐसा मानना एकत्व बुद्धि है। २. ये मेरे हैं – ऐसा मानना ममत्व बुद्धि है। ३. इनका मैं कर्ता हूँ – ऐसा मानना-कर्तृत्व बुद्धि है और ४. इनका मैं भोक्ता हूँ – ऐसा मानना भोक्तृत्व बुद्धि है।

एकत्व बुद्धि को अहं बुद्धि और ममत्व बुद्धि को स्वामित्व बुद्धि भी कहते हैं।

इन चारों प्रकार के संबंधों से इन्कार करना ही सम्यग्ज्ञान है। पर से

कुछ भी संबंध नहीं का यही आशय है। यद्यपि व्यवहारनय से इन स्त्री-पुत्रादि से संबंध बताये गये हैं; तथापि निश्चयनय उक्त सम्बन्धों से सर्वथा इन्कार करता है।

एक ओर अपना आतमराम और दूसरी ओर पूरा विश्व। हमें राम और गाँव में से एक को चुनना है।

यदि हमने आतमराम को चुना तो हमें स्वयं पर्याय में भगवान बनते देर नहीं लगेगी।

यदि आतमराम न चुनकर सारे जगत को चुना तो फिर चार गति और चौरासी लाख योनि में उसीप्रकार भटकना होगा; जिसप्रकार आजतक भटकते रहे हैं।

जब श्रीकृष्ण; कौरव और पाण्डवों को समझाते-समझाते थक गये, पर कोई समझौता नहीं हो सका तो नाराज होकर वे द्वारका चले गये।

वे यह बात अच्छीतरह जानते थे कि युद्ध आरंभ होने के पूर्व युद्ध में सहायता माँगने कौरव और पाण्डव - दोनों उनके पास अवश्य आयेंगे। अतः उन्होंने अपने भाई बलदेव से विचार-विमर्श किया कि उन दोनों को क्या उत्तर देना है, किसका साथ देना है?

बलदेव ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा कि हमें लड़ाई में किसी का भी साथ नहीं देना है।

युद्ध से आज तक किसी का भी भला नहीं हुआ। इसलिये युद्ध को रोकने का ही प्रयास किया जाना चाहिये। समझाना चाहिये, युद्ध से होने वाली हानियों से परिचित कराना चाहिये।

श्रीकृष्ण ने कहा - “समझाया तो बहुत है, पर कोई फल नहीं निकला। अब तो युद्ध होना ही है। ऐसी स्थिति में ऐसा कैसे हो सकता है कि बाल-बच्चे लड़ते रहें और माँ-बाप खड़े-खड़े चुपचाप देखते रहें। किसी न किसी का साथ तो देना ही होगा।”

बलदेव कहने लगे - “आखिर कौरव और पाण्डव अपने ही तो हैं। वे हमारी बात कैसे नहीं मानेंगे? जरा जोर देकर कहिये। हिंसा की भयानकता को समझाइये।”

उत्तर में श्री कृष्ण बोले - “भाई, मैंने अपनी शक्ति और बुद्धि से जितना समझा सकता था, समझा लिया।

अब तो यह स्थिति आ गई है कि किसका साथ देना - यह निर्णय करना ही होगा।”

बलदेव कहने लगे - “यह कैसे हो सकता है कि हम युद्ध नहीं करने की बात करते-करते स्वयं युद्ध में शामिल हो जावें, स्वयं भी लड़ने लगें।”

अन्ततः बलदेव उनसे सहमत न हो सके। उन्होंने स्वयं को उक्त युद्ध से अलग कर लिया। यही कारण है कि वे महाभारत में कहीं दिखाई नहीं देते।

कुछ दिनों के बाद जब युद्ध में सहयोग माँगने दुर्योधन और अर्जुन एक साथ कृष्ण के पास पहुँचे तो उन्होंने कहा कि एक ओर निहत्था (बिना हथियार का) अकेला मैं और दूसरी ओर हथियारबंद मेरी पूरी सेना।

“बोलो दुर्योधन - क्या चाहिये - मैं या सेना ?”

दुर्योधन ने कहा - “युद्ध तो हथियारों और सेना से ही जीते जाते हैं। अतः हमें तो हथियारबंद सेना ही दे दीजिये।

अकेले आपका क्या करेंगे हम? वह भी निहत्थे! आप तो उपदेश ही देंगे। सो हमने आपका उपदेश तो बहुत सुन लिया। कोरी बातों से क्या होता है ?”

फिर अर्जुन से पूछा - “बोलो तुम्हें क्या चाहिये ?”

अर्जुन बोला - “अब मुझे चुनाव का अधिकार ही कहाँ है; क्योंकि सेना और हथियार तो दुर्योधन ने ले ही लिये। मेरे पल्ले तो अब अकेले निहत्थे आप ही हैं।

हाँ, एक बात अवश्य है कि यदि मुझे चुनाव का अवसर मिलता तो भी मैं अकेले आपको ही चुनता।”

लोग कहते हैं कि अकेली बातों से क्या होता है, पर मैं कहता हूँ सब कुछ बातों से ही होता है।

विचारों का आदान-प्रदान बातों से ही तो होता है। सद्धर्म का प्रचार-प्रसार भी बातों से ही होता है। लोक में कहा जाता है कि बोलनेवाले के भूंगड़े (नमकीन चने) भी बिक जाते हैं और नहीं बोलने वाले का मालमसाला भी पड़ा रहता है। बातों (वाणी) का महत्व कम मत कीजिये। आदमी और पशु में मात्र वाणी का ही तो अन्तर है।

पाण्डवों की जीत का श्रेय भी तो युद्ध में मात्र बातें करने वाले श्रीकृष्ण को ही दिया जाता है। उन्होंने महाभारत में क्या किया? मात्र बातें ही तो की थीं। गीता का सम्पूर्ण उपदेश युद्ध के मैदान में ही तो हुआ था।

वैसे देखें तो महाभारत के युद्ध में श्रीकृष्ण की क्या स्थिति (हैसियत) थी?

वे सेनापति अर्जुन के सारथी थे। क्या होता है सारथी? आज की भाषा में कहें तो यही तो कहना होगा कि वे अर्जुन की गाड़ी (रथ) के ड्राइवर थे। क्या होती है ड्राइवर की हैसियत? पर महाभारत में पाण्डवों की जीत का श्रेय उन्हीं को दिया जाता है।

समझना-समझाना बातों से ही होता है, वाणी से ही होता है। हमारे तीर्थंकर भी धर्म के प्रचार के लिये समवशरण में बैठकर

मात्र बातें ही तो करते हैं। शास्त्रों में भी आचार्य भगवन्तों ने अच्छी-अच्छी बातें ही तो कही हैं, लिखी हैं।

महाभारत में जीत-हार का निर्णय उसी दिन हो गया था, जिस दिन अर्जुन ने निहत्थे श्री कृष्ण को चुना था।

हमें भी मुक्ति का मार्ग उसी दिन प्राप्त होगा, जब हम सारे जगत से मुँह फेरकर, दृष्टि हटाकर अपने को जानेंगे, अपने में ही अपनापन करेंगे, अपने में रम जायेंगे, जम जायेंगे, अपने में ही समा जायेंगे।

सम्पूर्ण जगत को दो भागों में बाँटना है। एक भाग में अकेला आत्मा और दूसरे भाग में सारी दुनियाँ। सारी दुनियाँ से दृष्टि हटाकर दृष्टि को आत्मसम्मुख करना है। यही धर्म है, धर्म की क्रिया भी यही है।

अरे, भाई! सबसे पहले 'मैं' नाम से वाच्य इस ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा को जानना है, यह जानना है कि यही मैं हूँ, इसी आत्मा में अपनापन स्थापित करना है। फिर इसी आत्मा का ध्यान करना है, इसी में जम जाना है, रम जाना है, समा जाना है, इसी में एकाकार हो जाना है।

पर्याय में भगवान बनने का, अनन्त सुखी होने का एकमात्र यही उपाय है।

'मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ' – इस गीत का संक्षेप में यही सन्देश है।



दूसरा छन्द

इस 'मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ' गीत का दूसरा छन्द इसप्रकार है -

मैं रंग-राग से भिन्न,
भेद से भी मैं भिन्न निराला हूँ।
मैं हूँ अखण्ड, चैतन्यपिण्ड,
निज रस में रमने वाला हूँ॥२॥

रंग अर्थात् पुद्गलादि पर पदार्थ, राग अर्थात् अपने आत्मा में उत्पन्न होने वाले मोह-राग-द्वेष भाव और भेद अर्थात् परलक्ष्य से उत्पन्न होने वाले विकल्प, नय सम्बन्धी विकल्प, गुणभेद, प्रदेशभेद व तत्संबन्धी विकल्प।

हाँ, तो यह निश्चित हुआ कि मैं उक्त रंग, राग और भेद से भिन्न, अखण्ड, एक ज्ञानानन्दस्वभावी निराला आत्मतत्त्व हूँ।

ज्ञान-दर्शन रूप चैतन्य का अखण्ड पिण्ड मैं; निरन्तर निज में, निज अतीन्द्रिय आनन्द में रमण करने वाला भगवान आत्मा हूँ।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी उक्त पंक्तियों पर बहुत रीझते थे। कहते थे रंग, राग और भेद से भिन्न इस एक पंक्ति में सारी दुनियाँ को समेट लिया है। गजब किया है भारिल्ल ने।

१. रंग शब्द में सभी संयोग आ जाते हैं।
२. राग में आत्मा में उत्पन्न होने वाले सभी विकारी भाव आते हैं।
३. भेद में गुणभेद, प्रदेशभेद, निर्मल पर्यायें आदि आती हैं।

इसप्रकार मैं सभी संयोगों, संयोगी भावों और सभी प्रकार के भेदभावों से भिन्न निराला आत्मतत्त्व हूँ। मैं चैतन्यभावों का अखण्डपिण्ड हूँ।

यहाँ 'मैं' शब्द का वाच्य क्या है ? - यह बात स्पष्ट करने के लिये जैनदर्शन में चार प्रकार के व्यवहार नय और चार प्रकार के निश्चयनय कहे गये हैं। आत्मस्वरूप के प्रतिपादक होने से इन नयों को अध्यात्मनय कहते हैं।

छह द्रव्यों के समुदायरूप इस विशाल विश्व में से हमें अपने उस आत्मा की खोज करनी है, जिसके दर्शन से सम्यग्दर्शन, जिसके जानने से अर्थात् निजरूप जानने से सम्यग्ज्ञान और जिसमें जमने-रमने से सम्यग्चारित्र होता है।

जब हम अपने आत्मा के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो स्त्री-पुत्र, मकान-जायदाद, रुपया-पैसा, नगर, देश, गाँव और सारी दुनियाँ तथा अपने शरीर में से हमें एक अपने आत्मा को खोज निकालना है।

यह काम हमें चार प्रकार के व्यवहार और चार प्रकार के निश्चयनयों के माध्यम से करना है।

चार प्रकार के व्यवहारनय इसप्रकार हैं -

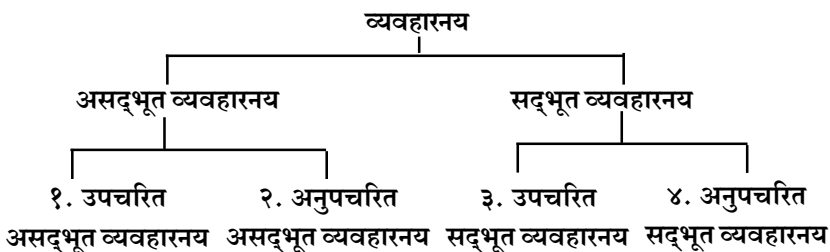
(१) उपचरित असद्भूत व्यवहारनय।

(२) अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय।

(३) उपचरित सद्भूत व्यवहारनय।

(४) अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय।

इन्हें हम इस रूप में भी प्रस्तुत कर सकते हैं -



उपचरित सद्भूत व्यवहारनय को अशुद्धसद्भूत व्यवहारनय और अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय को शुद्धसद्भूत व्यवहारनय भी कहते हैं।

१. हमारे पुण्य-पाप के योग से जो भी संयोग हमारे इर्द-गिर्द हैं, उन्हें अपना कहने वाला, उनका कर्त्ता-भोक्ता स्वयं (आत्मा) को कहने वाला व्यवहारनय उपचरित असद्भूत व्यवहारनय है।

यद्यपि यह कथन एकदम उपचरित है, असद्भूत है, एक प्रकार से है ही नहीं; तथापि एक स्थिति तो है ही।

२. शरीर और आत्मा में एकत्व स्थापित करने वाला, शरीर में ममत्व करने वाला, शारीरिक क्रियाओं का कर्त्ता-भोक्ता कहने वाला व्यवहारनय अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय है।

ये दोनों असद्भूत व्यवहारनय अहिंसक और सदाचारी जीवन के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। अतः इन्हें जिनागम में व्यवहार के रूप में स्वीकार किया गया है।

इन उपचरित और अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नयों से जिन-जिन को अपना कहा गया है; वे सब पदार्थ वस्तुतः अपने हैं नहीं, कहने मात्र के अपने हैं।

चारों प्रकार के व्यवहारनयों के कथन के सम्बन्ध में निश्चयनय कहता है कि तू ये नहीं है। तू तो एकमात्र ज्ञानानन्द स्वभावी चेतन तत्त्व है, अनन्त गुणों और असंख्य प्रदेशों का अखण्ड पिण्ड है। रंग, राग और भेद से भिन्न है। तुझे इन पर पदार्थों के सहयोग की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है। तू तो स्वयं में परिपूर्ण तत्त्व है। तुझमें तो कोई कमी है ही नहीं। पर से तेरा किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध है ही नहीं।

ये सभी बातें गीत की उक्त पंक्तियों में बताई गई हैं।

यद्यपि पाण्डे राजमलजी पंचाध्यायी में इन नयों को नय भी नहीं मानते, नयाभास कहते हैं। उनका कहना यह है कि जो शरीर को अपना कहे, स्त्री-पुत्रादि को अपना कहे, वह नय कैसे हो सकता है?

तथापि इन नयों की उपयोगिता के सन्दर्भ में **परमभावप्रकाशक नयचक्र** का निम्नांकित कथन दृष्टव्य है -

“ये नय भी सर्वथा अनुपयोगी नहीं हैं, इनसे भी कुछ न कुछ वस्तुस्थिति स्पष्ट होती ही है। ये नय आत्मा का परपदार्थों के साथ किसप्रकार का संबंध है, इस तथ्य का उद्घाटन करते हैं।

इन असद्भूतव्यवहारनयों से सर्वथा इन्कार करने पर भी अनेक आपत्तियाँ खड़ी हो जाती है। जैसे -

१. उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से इन्कार करने पर जिन-मन्दिर और शिव-मन्दिर का भेद संभव नहीं हो सकेगा तथा माँ-बाप, स्त्री-पुत्रादि, मकानादि एवं नगर व देशादि को अपना कहने का व्यवहार भी संभव न होगा। ऐसी स्थिति में स्वस्त्री-परस्त्री, स्वगृह-परगृह एवं स्वदेश-परदेश के विभाग के बिना लौकिक मर्यादायें कैसे निभेंगी ?

२. अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय के विषयभूत देही (शरीरस्थ आत्मा) को जीव नहीं मानने से त्रस-स्थावर जीवों को भी भस्म के समान मसल देने पर भी हिंसा नहीं होगी। ऐसा होने पर त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा के त्यागरूप अहिंसाणुव्रत और अहिंसामहाव्रत भी काल्पनिक ठहरेंगे।

इसीप्रकार तीर्थकर भगवान की सर्वज्ञता भी संकट में पड़ जायेगी; क्योंकि केवली भगवान पर को अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से ही जानते हैं।

३. उपचरित और अनुपचरित-दोनों ही प्रकार के असद्भूतव्यवहार नयों से इन्कार करने पर समस्त जिनवाणी के व्याघात का प्रसंग उपस्थित होगा; क्योंकि जिनवाणी में तो इनका कथन सम्यक्श्रुतज्ञान के अंश के रूप में आया है।

अतः इनकी सत्ता, उपयोगिता और सापेक्ष सम्यक्पने से इन्कार किया जाना संभव नहीं है।^१

स्त्री-पुत्र, मकान-जायदाद, रुपया-पैसा, कुटुम्ब-परिवार, जाति व समाज तथा ग्राम, नगर व देश को अपना कहनेवाला उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय सदाचार की सिद्धि करनेवाला नय है और शरीरधारी प्राणियों को ही जीव कहनेवाला अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय अहिंसात्मक आचरण की सिद्धि करनेवाला नय है।^२

लोक में अपने आत्मा से भिन्न जितने भी परपदार्थ हैं, उनमें अपने और पराये का भेद डालनेवाले इन नयों के आधार पर ही स्वस्त्री-परस्त्री, स्वधन-परधन, स्वगृह-परगृह, स्वजाति-परजाति, स्वदेश-परदेश एवं स्वदेह-परदेह आदि के भेद पड़ते हैं। यदि इन नयों की सत्यता से सर्वथा इन्कार किया जायेगा तो फिर परपदार्थों में इसप्रकार के भेद डालना संभव नहीं होगा।

इसप्रकार के भेद डाले बिना सदाचार-दुराचार एवं द्रव्यहिंसा को परिभाषित करना संभव न होगा; क्योंकि परस्त्री की लंपटता ही व्यभिचार है, बिना अनुमति के परधन का ग्रहण ही चोरी है तथा देहरूप प्राणों का घात ही द्रव्यहिंसा है। जब परपदार्थों में स्व-पर का विभाग ही नहीं होगा, ऐसी स्थिति में गृहस्थधर्म और अणुव्रतों की व्यवस्था कैसे बनेगी? क्योंकि अणुव्रतों के पालन में गृहस्थ धर्मानुकूल-विवाहित स्वस्त्री को छोड़कर अन्य समस्त परस्त्रियों के सेवन का त्यागी होता है, न्यायोपात्त धन को परिमाणपूर्वक रखकर शेष धन का त्यागी होता है एवं त्रस जीवों की हिंसा का भी त्यागी होता है।

१. परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ-१४३-१४४

२. वही, पृष्ठ-१४४

इसीप्रकार ईर्यासमिति आदि समितियों में भी जीवों के प्राणों की रक्षा ही विवक्षित होती है। शरीरधारी प्राणियों के शरीरादि के घात को जीवहिंसा कहनेवाले अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय को कथंचित् भी सत्यार्थ स्वीकार नहीं किया जाएगा तो फिर मुनिधर्म के सन्दर्भ में प्रतिपादित ईर्यादि समितियों की चर्चा भी असंगत हो जावेगी।

अणुव्रतादि रूप गृहस्थधर्म एवं महाव्रतादिरूप मुनिधर्म के प्रतिपादक चरणानुयोग का मूल आधार एकप्रकार से ये दोनों असद्भूत व्यवहारनय ही हैं।

यद्यपि परमार्थ तो यही कहता है कि स्त्री-पुत्रादि, मकान-जायदाद, नगर और देश अपने नहीं हैं; शरीर भी अपना नहीं है। गहराई से विचार करने पर यह बात पूर्णतः सत्य भी प्रतीत होती है, तथापि प्रथमानुयोग के शास्त्रों में तीर्थकरों के भी स्त्री-पुत्रादि, मकान-जायदाद एवं नगर-देशादि बताये गये हैं। चक्रवर्तियों को छह खण्ड की विभूति का स्वामी जिनागम में बताया गया है।

प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव को अयोध्यापति राजा नाभिराय एवं मरुदेवी का पुत्र, नन्दा-सुनन्दा का पति, भरत-चक्रवर्ती और बाहुबली आदि का पिता तथा अयोध्या का अधिपति कहना उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का ही प्रतिपादन है।

इसीतरह उन्हें पाँच सौ धनुष की कंचनवर्णी कायावाला वज्रवृषभनाराचसंहनन एवं समचतुरस्रसंस्थानवाला कहना अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय का कथन है।

इन दोनों ही प्रकार के असद्भूतव्यवहारनों को सर्वथा अस्वीकार करने पर प्रथमानुयोग के सभी कथनों पर पानी फिर जायगा; एकप्रकार से हमारा पौराणिक इतिहास ही समाप्त हो जायेगा।^१

१. परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ-१४६-१४७

प्रश्न - जिनागम के व्याघात की बात एवं अणुव्रत-महाव्रत काल्पनिक ठहरने की बात तो ठीक, पर लौकिक मर्यादायें किसप्रकार संकट में पड़ेंगी ?

उत्तर - जब स्वस्त्री और परस्त्री का भेद नहीं रहेगा तब या तो हम सभी से स्वस्त्री के समान व्यवहार करेंगे या फिर परस्त्री के समान ।

दोनों ही स्थितियों में व्यावहारिक मर्यादायें संभव न रह पावेंगी; क्योंकि सभी स्त्रियों में स्वस्त्रीवत् व्यवहार करने पर हमारी स्थिति पशुवत् हो जावेगी; माँ, बहिन, पुत्री और पत्नी का भेद ही समाप्त हो जावेगा - ऐसी स्थिति में कौन किसकी संतान है - यह निश्चय न हो पाने के कारण पिता-पुत्र का व्यवहार असंभव हो जावेगा ।

इसप्रकार कुल, गोत्र, जाति आदि सभी व्यावहारिक मर्यादाएँ लुप्त हो जावेंगी, जो शायद लोक में किसी को भी इष्ट न होगा ।

इससे बचने के लिए यदि आप यह कहें कि हम सब से स्वस्त्रीवत् व्यवहार न करके, सभी से परस्त्रीवत् ही व्यवहार करेंगे, क्योंकि वे पर ही तो हैं । पर इससे भी समस्या का समाधान नहीं होगा, फिर तो सभी को पूर्ण ब्रह्मचारी ही हो जाना होगा, क्योंकि स्वस्त्री तो कोई होगी नहीं और परस्त्री-सेवन आगमसंमत नहीं, नैतिक भी नहीं है ।

यदि आप कहें कि इसमें क्या आपत्ति है ? सभी ब्रह्मचारी हो जावें - इसमें क्या दिक्कत है ?

दिक्कत तो कुछ नहीं, पर असंभव अवश्य है । दूसरी बात यह भी तो है कि फिर तीर्थकरों का भी जन्म कैसे होगा ?

इसमें तो लौकिक मर्यादायें ही नहीं, लोक का क्रम संकटग्रस्त हो जावेगा ।

इसीप्रकार स्वधन-परधन के विभाग के अस्त हो जाने पर सभ्यता का विकासक्रम ही समाप्त हो जावेगा; क्योंकि जब कोई मकान-जायदाद

हमारी होगी ही नहीं तो हम उसका निर्माण ही क्यों करेंगे ?

पशुओं के समान ही छीनाझपटी आरंभ हो जावेगी। स्वगृह के समान ही सभी घरों में निःशंक प्रवेश करने पर, स्वजेब के समान ही परजेब में निःशंक हाथ डालने पर हमारी जो दशा होगी, उसकी कल्पना भी आसानी से की जा सकती है।

स्वघर और परघर, स्वस्त्री और परस्त्री का भेद मात्र लौकिक ही नहीं है; अपितु इसका धार्मिक आधार भी है, नैतिक आधार भी है। अतः धार्मिक और नैतिक जीवन के लिए परपदार्थों में भी अपने-पराये का भेद डालनेवाले इन नयों को स्वीकार करना न्यायसंगत है, आगमसम्मत है।

बिना नैतिक और धार्मिक जीवन के आध्यात्मिक साधना संभव नहीं है, यही कारण है कि आध्यात्मिक नयों में असद्भूतव्यवहारनय को भी स्थान प्राप्त है।^१”

१. जो नय प्रयोजनवश अपने से भिन्न इन स्त्री-पुत्रादि से उक्त प्रकार के संबंध को स्वीकार करता है, वह उपचरित असद्भूत व्यवहारनय है।

स्त्री-पुत्रादि दूर के संबंधी होने से उपचरित, वास्तविक संबंधी नहीं होने से असद्भूत, अपने कहे जाने से व्यवहार और सम्यग्ज्ञान के अंश होने से नय कहलाते हैं।

इसप्रकार इसके नामकरण में प्रत्येक पद सार्थक है।

२. शरीर से उक्त प्रकार के संबंध स्वीकार करता है, वह अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय है।

इसमें भी शरीर निकट का संबंधी होने से अनुपचरित, वास्तविक

१. परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ-१४८-१४९

संबंधी नहीं होने से असद्भूत, संबंधी कहा जाने से व्यवहार और सम्यग्ज्ञान का अंश होने से नय कहलाता है।

बाह्य संयोगों में एकत्व-ममत्व, कर्तृत्व-भोक्तृत्व उपचरित असद्भूत व्यवहारनय है और शरीर में एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय है।

उक्त दोनों नयों का निषेध करते हुये निश्चयनय कहता है कि ये संयोग और संयोगीभाव मैं नहीं, मेरे नहीं; इनका कर्ता-भोक्ता भी मैं नहीं। निश्चयनय की यह बात ज्ञानानन्दस्वभावी इस गीत में समझाई गई है।

उपचरित और अनुपचरित - उक्त दोनों नय असद्भूत व्यवहारनय के भेद हैं।

दूर के संबंधी होने से उपचरित और निकट संबंधी अनुपचरित कहलाते हैं। स्त्री-पुत्रादि दूर के संबंधी हैं और शरीर निकट का संबंधी - इसलिए स्त्री-पुत्रादि को अपना कहने वाले नय को उपचरित और शरीर को अपना कहने वाले नय को अनुपचरित कहते हैं।

स्त्री-पुत्रादि का वियोग इसी जन्म में कभी भी हो जाता है; इसलिये उनके साथ का संबंध दूर का है, अतः उपचरित है। देह का संबंध जीवन पर्यन्त रहता है; अतः निकट का है; इसलिये अनुपचरित है।

ये दोनों नय असद्भूत व्यवहारनय हैं; क्योंकि शरीर और स्त्री-पुत्रादि वास्तव में अपने हैं नहीं, इनका स्वामी भी मैं नहीं हूँ, इनका कर्ता-भोक्ता भी मैं नहीं हूँ, अतः इनसे संबंध बताने वाला नय असद्भूत कहलाता है।

इसप्रकार उक्त छन्द में इस असद्भूत व्यवहारनय के विषयों का निषेध कर दिया गया है।

कहा गया है कि न तो मैं शरीर रूप हूँ और न मैं स्त्री-पुत्रादि रूप ही हूँ। मैं न इनका स्वामी हूँ और मैं न इनका कर्ता-भोक्ता ही

हूँ। इन संयोगों से मेरा कोई संबंध नहीं है। इनसे एकत्व-ममत्व और कर्तृत्व-भोक्तृत्व मानना अज्ञान है, मिथ्यात्व है।

निश्चयनय से तो स्त्री-पुत्रादि व शरीरादि अपने हैं नहीं; पर व्यवहारनय से अपेक्षानुसार उन्हें प्रयोजन की सिद्धि के लिये जिनवाणी में कथंचित् सत्यार्थ भी कहा गया है।

स्त्री-पुत्रादि और शरीर को अपना कहने वाले नय को जब सर्वथा असत्यार्थ कहा गया तो यह प्रश्न खड़ा होगा कि इनके आधार पर चलने वाले व्यवहार का काम आप कैसे चलायेंगे? तो पाण्डे राजमलजी को यही कहना पड़ा कि हम व्यवहाराभास से काम चला लेंगे।

जब व्यवहाराभास के बिना काम नहीं चलता तो फिर उन्हें कथंचित् असद्भूत व्यवहारनय मानने में कोई हानि नहीं है।

यह आत्मगीत तो निश्चयनय का गीत है, इसमें तो परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत आत्मा की चर्चा की गई है; अतः यहाँ तो एकमात्र परमार्थ की बात है। परम+अर्थ = परमार्थ। उत्कृष्ट आत्मतत्त्व की साधना-आराधना ही परमार्थ है। अतः यहाँ तो सभी प्रकार का व्यवहार अभूतार्थ है, असत्यार्थ है। एकमात्र परमशुद्धनिश्चयनय ही भूतार्थ है, सत्यार्थ है, परमार्थ है।

निश्चय-व्यवहारनयों की अपेक्षा इस गीत में परमशुद्धनिश्चयनय एवं द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनयों की अपेक्षा परमभावग्राही शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का कथन है। इस गीत का भाव समझने के लिये उक्त नयों का स्वरूप जानना आवश्यक है।

चार प्रकार के व्यवहारनयों में अभी दो प्रकार के असद्भूत व्यवहारनयों की चर्चा हुई है। सद्भूत व्यवहारनयों की चर्चा शेष है।

सद्भूतव्यवहारनय भी उपचरित और अनुपचरित के भेद से दो प्रकार का होता है।

उपचरितसद्भूत व्यवहारनय को अशुद्धसद्भूत व्यवहारनय और अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय को शुद्ध सद्भूतव्यवहारनय भी कहते हैं।

रंग, राग और भेद से भिन्न संबंधी प्रकरण में रंग पद से वाच्य सभी संयोग असद्भूतव्यवहारनय में आते हैं और मोह-राग-द्वेषरूप संयोगी भाव (विकारीभाव) उपचरित सद्भूत व्यवहारनय में आते हैं। तात्पर्य यह है कि राग-द्वेष भावों को आत्मा कहना, आत्मा का कहना, आत्मा को उनका कर्ता-भोक्ता कहना उपचरित सद्भूतव्यवहारनय का कथन है।

सम्यग्दर्शन आदि निर्मल परिणमन एवं गुणभेद, प्रदेशभेद आदि अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय में आते हैं। इन्हें आत्मा कहना, आत्मा का कहना, आत्मा को उनका कर्ता-भोक्ता कहना अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय है।

आत्मा के विकारी परिणमन का ज्ञान कराने में उपचरित सद्भूत व्यवहारनय काम आता है और आत्मा के वैभव का परिचय अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय कराता है।

अतः ये नय भी उपयोगी नय हैं; क्योंकि अपने विकारों को जाने बिना उन्हें त्यागेंगे कैसे? और गुणों को पहिचाने बिना उनमें उपादेय बुद्धि कैसे होगी?

पण्डित दौलतरामजी छहढाला में कहते हैं -

“बिन जाने तैं दोष-गुणनि को कैसे तजिये गहिये”

निश्चयनय, रागादि में अपनापन बताने वाले उपचरित सद्भूत व्यवहारनय का और भेद का उद्पादक होने अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय का भी निषेध कर देता है। उक्त छन्द में राग और भेद से भिन्न पद का प्रयोग इन्हीं नयों के निषेध के लिये किया गया है।

चार प्रकार के निश्चय और दस प्रकार के द्रव्यार्थिकनयों की चर्चा चौथे छन्द में शुद्ध-बुद्ध पद का अर्थ करते समय करेंगे। ●

तीसरा छन्द

एकत्व-ममत्व की बात पूर्ण हो जाने के बाद अब कर्तृत्व-भोक्तृत्व की बात करते हैं।

मैं ही मेरा कर्त्ता-धर्त्ता,
मुझ में पर का कुछ काम नहीं।
मैं मुझ में रहने वाला हूँ,
पर में मेरा विश्राम नहीं॥३॥

मेरा कर्त्ता-धर्त्ता और भोक्ता मैं ही हूँ। पर पदार्थ मुझमें कुछ भी नहीं करते। न करते हैं और न कुछ कर सकते हैं।

इसीप्रकार मुझसे भिन्न पर पदार्थ भी स्वयं के कर्त्ता-धर्त्ता-भोक्ता हैं; उनमें कुछ करना मेरा काम नहीं है। उनमें कुछ करने का बोझा मुझे अपने माथे पर नहीं रखना है।

मेरा आवास (रहना) मुझमें ही है; किसी अन्य पदार्थ में रहना मेरा स्वरूप नहीं है; मुझे विश्राम स्वयं में ही प्राप्त होता है, अन्यत्र कहीं नहीं।

जिसप्रकार कहा था कि पर घर जाना नाम धराना है; उसीप्रकार पर में विश्राम खोजना भी हराम है, आराम नहीं, विश्राम नहीं। विश्राम तो मुझे स्वयं में ही प्राप्त होता है।

इसप्रकार इस छन्द में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-भोक्ता नहीं है; क्योंकि प्रत्येक द्रव्य स्वयं के सब कार्य करने में पूर्ण समर्थ हैं।

एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-भोक्ता मानना अनन्त गुलामी का सिद्धान्त है; अनन्त भय उत्पन्न करने वाली मान्यता है।

उक्त सन्दर्भ में मैंने आत्मा ही है शरण नामक कृति में विस्तार से लिखा है; उसका महत्त्वपूर्ण अंश इसप्रकार है -

“जो व्यक्ति यह मानता है कि मैं दूसरो को मारता हूँ या दूसरे मुझे मारते हैं; मैं दूसरो की रक्षा करता हूँ या दूसरे मेरी रक्षा करते हैं; मैं दूसरो को सुखी-दुःखी करता हूँ या दूसरे मुझे सुखी-दुःखी करते हैं; वह व्यक्ति मूढ़ है, अज्ञानी है; तथा ज्ञानियों की मान्यता इससे विपरीत होती है। तात्पर्य यह है कि एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता मानना अज्ञान है, मिथ्यात्व है।

इस महान सिद्धान्त को जगत के समक्ष रखते हुए आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने समयसार के बंधाधिकार में करणानुयोग को आधार बनाकर जो वजनदार युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं; वे अपने आप में अद्भुत हैं, अकाट्य हैं।

सौ इन्द्रों की उपस्थिति में, चार ज्ञान के धारी गणधरदेव की उपस्थिति में, तीर्थंकर परमात्मा अरहंतदेव ने अपनी दिव्यध्वनि में डंके की चोट पर यह बात कही है कि जगत का प्रत्येक प्राणी अपने आयुर्कर्म के क्षय से मरण को प्राप्त होता है और आयुर्कर्म के उदय से ही जीवित रहता है तो फिर कोई किसी के जीवन-मरण का उत्तरदायी कैसे हो सकता है?

जब तुम किसी के आयुर्कर्म का हरण नहीं कर सकते हो तो फिर उसे मार भी कैसे सकते हो? इसीप्रकार जब कोई अन्य व्यक्ति तुम्हारे आयुर्कर्म का हरण नहीं कर सकता है तो वह तुम्हें भी कैसे मार सकता है?

यही बात जीवन के संदर्भ में भी कही जा सकती है।

जब प्रत्येक प्राणी अपने आयुर्कर्म के उदय से जीवित रहता है और जब तुम किसी को आयुर्कर्म दे नहीं सकते हो तो फिर तुम उसकी रक्षा भी किसप्रकार कर सकते हो?

इसीप्रकार जब कोई अन्य व्यक्ति तुम्हें आयुर्कर्म नहीं दे सकता है तो फिर वह तुम्हारी रक्षा भी किसप्रकार कर सकता है?

इसीप्रकार सुख-दुःख के सन्दर्भ में भी घटित कर लेना चाहिए।

प्रत्येक जीव अपने शुभकर्म के उदयानुसार लौकिक सुख प्राप्त करता है, अनुकूल संयोग प्राप्त करता है और अपने अशुभकर्म के अनुसार दुःख प्राप्त करता है, प्रतिकूल संयोग प्राप्त करता है। यह परमसत्य जिनेन्द्र भगवान की वाणी में आया है।

जब तुम किसी को भी शुभाशुभकर्म नहीं दे सकते हो तो उसे सुखी-दुःखी भी कैसे कर सकते हो? इसीप्रकार जब कोई तुम्हें शुभाशुभकर्म नहीं दे सकता है तो वह तुम्हें भी सुखी-दुःखी कैसे कर सकता है?

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक प्राणी अपने सुख-दुःख एवं जीवन-मरण का कर्ता-धर्ता-हर्ता स्वयं ही है, अपने भले-बुरे का उत्तरदायी भी पूर्णतः स्वयं ही है।

इस परमसत्य से अपरिचित होने के कारण ही अज्ञानीजन अपने सुख-दुःख एवं जीवन-मरण का कर्ता-धर्ता-हर्ता अन्य जीवों को मानकर अकारण ही उनसे राग-द्वेष किया करते हैं। अज्ञानी के ये राग-द्वेष-मोह परिणाम ही उसके अनन्त दुःखों के मूल कारण हैं।

पर मैं ममत्व एवं कर्तृत्व बुद्धि से उत्पन्न इन मोह-राग-द्वेष परिणामों को जड़मूल से उखाड़ फेंकने वाले इस महासिद्धान्त को जगत के सामने रखकर आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने हम सब का महान उपकार किया है; क्योंकि जगतजनों के जीवन का सर्वाधिक समय इसी चिंता और आकुलता-व्याकुलता में जाता है कि कोई हमें मार न डाले, दुःखी न कर दे; मैं पूर्ण सुरक्षित रहूँ, जीवित रहूँ, सुखी रहूँ।

अपनी सुरक्षा के उपायों में ही हमारी सर्वाधिक शक्ति लग रही है, बुद्धि लग रही है, श्रम लग रहा है। अधिक क्या कहें - हमारा सम्पूर्ण जीवन ही इसी के लिए समर्पित है, इसी चिन्ता में बीत रहा है।

पड़ौसी पड़ौसी से आतंकित है, आशंकित हैं; एक-दूसरे के विरुद्ध षड्यंत्र रचने में संलग्न है, सुरक्षा के नाम पर विनाश की तैयारी में मग्न है; निराकुलता और शान्ति किसी के भी जीवन में दिखाई नहीं देती।

इस मूढ़ जगत ने अपनी सुरक्षा के नाम पर संसार के विनाश की इतनी सामग्री तैयार कर ली है कि यदि उनका शतांश भी उपयोग में आ जावे तो सम्पूर्ण मानव जाति ही समाप्त हो सकती है।

आश्चर्य और मजे की बात तो यह है कि हमने इस मारक क्षमता का विकास सुरक्षा के नाम पर किया है, यह सब अमरता के लिए की गई मृत्यु की ही व्यवस्था है।

घटिया माल को बढ़िया पेकिंग में प्रस्तुत करने का अभ्यस्त यह जगत हिंसक कार्यों के लिए भी अहिंसक शब्दावली का प्रयोग करने में इतना माहिर हो गया है कि मछलियाँ मारने का काम भी मत्स्य पालन उद्योग के नाम से करता है, कीटाणुनाशक (एन्टी बाइोटिक्स) दवाओं को भी जीवन रक्षक दवाइयाँ कहता है।

इसप्रकार यह जगत हथियारों का अंबार लगाकर अपने को सुरक्षित करना चाहता है; पर भाई! हथियार तो मृत्यु के उपकरण हैं, जीवन के नहीं; इस सामान्य तथ्य की ओर आपका ध्यान क्यों नहीं जाता?

हथियारों के प्रयोग से आज तक किसी का जीवन सुरक्षित तो हुआ नहीं, मौत का ताण्डव अवश्य हुआ है।

इस परमसत्य के स्पष्टीकरण के लिए मैं आपका ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ कि भारत में लगभग एक करोड़ जैन रहते हैं, यदि उनके घरों की तलाशी ली जावे तो एक प्रतिशत घरों में भी कोई भी शस्त्र नहीं मिलेगा। जैन मन्दिरों की तो यह हालत है कि आग्नेय शस्त्र (बन्दूक-पिस्तोल) तो बहुत दूर, किसी भी मन्दिर में एक लाठी भी प्राप्त नहीं होगी।

शस्त्रों से विहीन इस अहिंसक समाज का एक भी व्यक्ति शस्त्रों से बेमौत नहीं मरता, सभी अपनी सहज मौत से ही मरते हैं।

दूसरी ओर देखें तो पंजाब के घर-घर में हथियार हैं और गुरुद्वारे तो हथियारों से भरे पड़े हैं। जब भी किसी गुरुद्वारे का सैनिकों द्वारा ऑपरेशन होता है तो वे हथियारों के पहाड़ों से पटे मिलते हैं, फिर भी वे लोग सुरक्षित नहीं हैं। हम प्रतिदिन समाचार-पत्रों में पढ़ते हैं कि आज इतने मरे और आज इतने मरे। नहीं मरने का तो कोई सवाल ही नहीं है।

बस अब तो इतना ही देखना होता है कि आज कितने मरे? ऐसा कोई दिन नहीं जाता कि जिस दिन पंजाब में दस-बीस हत्यायें न होती हों। यह सब क्या है?

इससे तो यही सिद्ध होता है कि शस्त्र सुरक्षा के साधन नहीं हैं, अपितु मौत के ही मौन आमंत्रण हैं; क्योंकि जिनके पास हथियार नहीं होते, वे हथियारों से नहीं मरते; पर जिनके पास हथियार होते हैं, वे प्रायः हथियारों से ही मारे जाते हैं।

मान लीजिए मेरे पास दस हजार रुपये हैं और वे रुपये मुझ निहत्थे से कोई छीनना चाहता है तो उसे हथियार लाने की कोई आवश्यकता नहीं है, एक डंडा ही पर्याप्त है। डंडा भी मारने की आवश्यकता नहीं है, दिखाना ही पर्याप्त है; क्योंकि डंडा दिखाने मात्र से ही उसे रुपये प्राप्त हो जायेंगे।

इसप्रकार मेरा शस्त्रों से मरना तो बहुत दूर, डंडे से पिटना भी संभव नहीं है; किन्तु यदि किसी हथियार वाले को लूटना हो तो लुटेरों को हथियारों से सुसज्जित होकर ही आना होगा। लुटेरे उसके रुपये तो लूटेंगे ही, जान से भी मार सकते हैं; क्योंकि उससे उन्हें सदा खतरा बना रहेगा।

इसप्रकार यह सुनिश्चित है कि हथियार सुरक्षा के साधन नहीं, मौत के ही सौदागर हैं। फिर भी कुछ लोग कहते हैं कि हमारे हथियारों के भय से हम पर कोई आक्रमण करने की हिम्मत ही नहीं करेगा, अतः

हम सुरक्षित रहेंगे। ऐसा सोचने वालों से मेरा कहना यह है कि यदि यह मान भी लिया जाय कि तुम्हारे शस्त्रों के भय से तुम पर कोई आक्रमण नहीं करेगा; पर जब तुम स्वयं बीमार होकर मरोगे, तब क्या होगा?

इस आशंका से आकुल-व्याकुल इस जगत ने अनेक प्रकार की औषधियों का निर्माण किया है। 'कोई मार न दे' - इस आशंका से एक प्रकार की गोलियाँ (अणुबम) बनाई हैं तो 'बीमारियों से स्वयं ही न मर जावें' - इस भय से दूसरे प्रकार की गोलियों (दवाइयाँ) बनाई हैं। जीवन रक्षक (एन्टीबाइोटिक्स) दवाइयों का उत्पादन इसकी इसी आकांक्षा का परिणाम है।

इसप्रकार यह स्वयं को गोलियों के बल पर मरण भय से मुक्त करना चाहता है, पर आजतक तो इसमें किसी को सफलता प्राप्त हुई नहीं है; क्योंकि अभी तक तो कोई सदेह अमर हो नहीं पाया है। लाखों लोगों को दम तोड़ते हम प्रतिदिन देखते ही हैं।

इसीप्रकार सुखी रहने और दुःख दूर करने के लिए भी इसने दर्दनाशक दवाओं का निर्माण किया है। खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना सभी प्रकार के भोगों का भोगना एवं भोगसामग्री इकट्ठी करना भी इसी आकांक्षा का परिणाम है।

पर इतना सब-कुछ कर लेने के बाद भी न तो यह अमर ही हो सका है और न ही सुखी ही; क्योंकि अमर और सुखी होने का जो रास्ता इस जगत ने चुना है, वह सम्यक् नहीं है। न तो शस्त्र सुरक्षा के साधन ही हैं और न दवाइयाँ दुःख दूर करने में समर्थ हैं; क्योंकि न तो वे लोग सुरक्षित ही दिखाई देते हैं, जो शस्त्रों की सुरक्षा में रहते हैं और न वे सुखी दिखाई देते हैं, जो प्रतिदिन दस-पाँच गोलियाँ तो खाते ही हैं।

भारतवर्ष में ऐसे अनेक नव्ण दिगम्बर संत मिलेंगे, जिन्होंने जीवन में एक भी गोली नहीं खाई होगी। दिन में एक बार शुद्ध

सात्विक आहार लेनेवाले, दूसरी बार जल का बिन्दु भी ग्रहण नहीं करने वाले वीतरागी संत सौ-सौ वर्ष की आयु पर्यन्त पूर्ण स्वस्थ दिखाई देते हैं और अपनी पूर्ण आयु को चलते-फिरते आत्मसाधना में रत रहते हुये आनन्द से भोगते हैं; जबकि प्रतिदिन अनेक गोलियाँ खाने वाले, दिन-रात भक्ष्य-अभक्ष्य पौष्टिक पदार्थ भक्षण करनेवाले जगतजन भरी जवानी में ही जवाब देने लगते हैं।

इसप्रकार यह अत्यन्त स्पष्ट है कि न तो हथियार सुरक्षा के साधन हैं, और न ही भोगोपभोग सामग्री तथा औषधियाँ सुखी होने का वास्तविक उपाय हैं; आयुकर्म का उदय जीवन का आधार है और शुभकर्मों का उदय लौकिक सुखों का साधन है।

ये कर्म भी जीव स्वयंकृत शुभाशुभ भावों के अनुसार स्वयं ही बाँधता है। इसप्रकार यह प्राणी अपने जीवन-मरण और सुख-दुःख का पूर्ण उत्तरदायी स्वयं ही है, अन्य किसी का इसमें रंचमात्र भी हस्तक्षेप नहीं है।

इसी बात को यहाँ बड़ी दृढ़ता से प्रस्तुत किया गया है कि जो यह मानते हैं कि मैं दूसरों को मारता हूँ या उनकी रक्षा करता हूँ अथवा दूसरे मुझे मारते हैं या वे मेरी रक्षा करते हैं; वे मूढ़ हैं, अज्ञानी हैं; और ज्ञानी इससे विपरीत हैं, क्योंकि ज्ञानी ऐसा नहीं मानता; वह तो यह स्वीकार करता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने सुख-दुःख और जीवन-मरण का पूर्ण उत्तरदायी स्वयं ही है, कोई किसी के जीवन-मरण और सुख-दुःख का कर्त्ता-हर्त्ता-धर्त्ता नहीं है।^१

अनिर्णय की स्थिति में पड़े हुए संशयग्रस्त प्राणी के भय और दीनता का एक ही कारण है और यह है अन्य को अपने जीवन-मरण और सुख-दुःख का कारण मानना।

इसीप्रकार इसके अभिमान का कारण भी यह मानना है कि मैं दूसरों को मार सकता हूँ, बचा सकता हूँ; सुखी-दुःखी कर सकता हूँ।^२

१. आत्मा ही है शरण, पृष्ठ - १०५-११०,

२. वही, पृष्ठ - १११

किसी अन्य के कुछ करने-धरने से तो हमारा हित-अहित होता ही नहीं है; किसी के आशीर्वाद और शाप से भी कुछ नहीं होता।^१

‘मैं दूसरों को मारता हूँ या बचाता हूँ अथवा सुखी-दुःखी करता हूँ’ - यह मान्यता अभिमान की जननी है और ‘दूसरे जीव मुझे मारते हैं बचाते हैं, सुखी-दुखी करते हैं’ - यह मान्यता दीनता पैदा करती है, भयाक्रांत करती है, अशांत करती है, आकुलता-व्याकुलता पैदा करती है।

अतः यदि हम अभिमान से बचना चाहते हैं, दीनता को समाप्त करना चाहते हैं, आकुलता-व्याकुलता और अशांति से बचना चाहते हैं, निर्भार होना चाहते हैं तो उक्त मिथ्या मान्यता को तिलांजलि दे देना ही श्रेयस्कर है, जड़मूल से उखाड़ फेंकना ही श्रेयस्कर है - सुखी और शांत होने का एकमात्र यही उपाय है।^२”

इसी परम सत्य की ओर ध्यान दिलाया गया है इस तीसरे छन्द में।

अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि मेरा कर्ता-धर्ता मैं ही हूँ, अन्य कोई नहीं। इसीप्रकार मैं स्वयं में ही रहनेवाला हूँ; क्योंकि मेरी सुख-शान्ति मुझमें ही है। पर पदार्थों में से मुझे कुछ भी मिलने वाला नहीं है।

उक्त विचार का मंथन करने वाले ज्ञानीजनों के जीवन में अनन्त शान्ति देखने में आती है, होती है।

अतः प्रत्येक आत्मार्थी भाई-बहिन का कर्तव्य है कि वे इस गीत की उक्त पंक्तियों का पाठ बार-बार करें, उनमें समागत विचारों पर गंभीरता से विचार कर अतीन्द्रिय आनन्द और आत्मीक शान्ति प्राप्त करें।

१. आत्मा ही है शरण, पृष्ठ - ११८

२. आत्मा ही है शरण, पृष्ठ - ११९

चौथा छन्द

तीसरे छन्द में कर्तृत्व और भोक्तृत्व की चर्चा के उपरान्त अब चौथे छन्द में समागत विषयवस्तु की चर्चा करते हैं।

चौथा छन्द इसप्रकार है -

मैं शुद्ध, बुद्ध, अविरुद्ध, एक
पर-परिणति से अप्रभावी हूँ।
आत्मानुभूति से प्राप्त तत्त्व,
मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ॥ ४॥

मैं शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, अविरुद्ध हूँ और एक हूँ। मैं पर पदार्थों और उनकी परिणति से पूर्णतः अप्रभावित हूँ। मेरे ऊपर पर पदार्थों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। आत्मानुभूति से प्राप्त होनेवाला मैं ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मतत्त्व हूँ।

दस प्रकार के द्रव्यार्थिकनयों में परमभावग्राही द्रव्यार्थिक नामक दसवें नय का एवं चार प्रकार के निश्चयनयों में से परमशुद्ध निश्चयनय का विषयभूत शुद्ध-बुद्ध आत्मतत्त्व ही मैं हूँ - यहाँ यह कहा जा रहा है।

परमशुद्ध निश्चयनय तथा परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय का स्वरूप समझने के लिये चार प्रकार के निश्चयनय और दस प्रकार के द्रव्यार्थिकनयों का स्वरूप समझना आवश्यक है।

इनका विस्तृत विवेचन परमभावप्रकाशक नयचक्र के प्रथम व द्वितीय अध्यायों में दिया गया है। जिज्ञासुओं को विशेष जानने के लिये परमभावप्रकाशक नयचक्र का अध्ययन करना चाहिये।

यहाँ उनका मात्र सामान्य स्वरूप दिया जा रहा है -

निश्चयनय दो प्रकार का है - १. शुद्ध निश्चयनय और २. अशुद्ध निश्चयनय ।

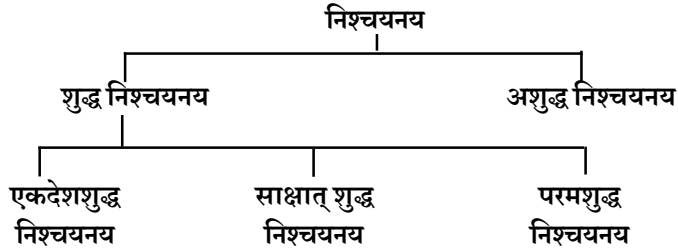
शुद्ध निश्चयनय तीन प्रकार का है - १. एकदेशशुद्ध निश्चयनय
२. साक्षात् शुद्धनिश्चयनय और ३. परमशुद्ध निश्चयनय ।

अशुद्ध निश्चयनय एक ही प्रकार का है ।

इसप्रकार कुल मिलाकर निश्चयनय चार प्रकार का हो गया; जो इसप्रकार है -

१. अशुद्ध निश्चयनय
२. एकदेशशुद्ध निश्चयनय
३. साक्षात्शुद्ध निश्चयनय
४. परमशुद्ध निश्चयनय

इन्हें निम्नांकित चार्ट से समझ सकते हैं -



१. 'अभेद सो निश्चय' इस परिभाषा के अनुसार रागादिभावों से अभेदरूप निरूपण अशुद्ध निश्चयनय है । इस नय के उदाहरण होंगे - रागी जीव, मिथ्यादृष्टि जीव ।

२. एकदेशशुद्ध निर्मलपर्यायों से आत्मा को अभेद बताने वाला नय एकदेशशुद्ध निश्चयनय है । इसका उदाहरण है सम्यग्दृष्टि जीव ।

३. पूर्णशुद्ध निर्मलपर्यायों से अभेद बताने वाला साक्षात् शुद्धनिश्चयनय होता है । जैसे आत्मा को केवलज्ञानी कहना ।

४. उक्त तीनों नय पर्याय सहित आत्मा को देखने वाले नय हैं; किन्तु चौथा परमशुद्धनिश्चयनय शुद्ध-अशुद्ध सभी पर्यायों से रहित त्रिकाली ध्रुव वस्तु को देखने वाला नय है।

इस गीत में जो शुद्ध पद का प्रयोग किया गया है; उसका वाच्य परमशुद्धनिश्चय संबंधी अनादि-अनन्त स्वभावगत शुद्धता है।

द्रव्यार्थिकनय दस प्रकार के होते हैं - जिनके नाम क्रमशः इसप्रकार हैं -

१. कर्मोपाधि निरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय
२. भेदकल्पना निरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय
३. उत्पाद-व्यय निरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय
४. कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय
५. भेदकल्पना सापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय
६. उत्पाद-व्यय सापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय
७. अन्वय द्रव्यार्थिकनय
८. स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय
९. परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय
१०. परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय

इन सभी नयों का स्वरूप इनके नामों से ही बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है।

इसप्रकरण में कर्मोपाधि, भेदकल्पना और उत्पाद-व्यय से निरपेक्षता ही शुद्धता है और इनसे सापेक्षता अशुद्धता है।

इसप्रकार आरंभ के ६ नयों में से आरंभ के तीन शुद्ध द्रव्यार्थिकनय हैं और बाद के तीन अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय हैं।

शेष चार नयों में शुद्धता-अशुद्धता सम्बन्धी कोई भेद नहीं है।

इस अध्यात्मगीत में जिस शुद्धता की बात की है, वह शुद्धता उक्त तीन शुद्ध नयों वाली शुद्धता नहीं है; अपितु परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय की विषयभूत शुद्ध वस्तु है।

में शुद्ध-बुद्ध का अर्थ त्रिकाली ध्रुव द्रव्य है, जो परभावग्राही दसवें द्रव्यार्थिकनय का विषय है।

दसवें द्रव्यार्थिकनय की परिभाषा माइल्ल धवल के द्रव्यस्वभाव प्रकाशक नयचक्र में इसप्रकार दी गई है -

“गेणहइ दव्वसहावं असुद्धसुद्धोवयारपरिचत्तं।

सो परमभावग्राही णायव्वो सिद्धिकामेण ॥१९८॥

जो शुद्ध, अशुद्ध और उपचरितस्वभाव से रहित द्रव्यस्वभाव (परमस्वभाव) को ग्रहण करता है, वह परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय है। सिद्धि की कामना रखनेवालों को उसे अच्छी तरह जानना चाहिये।”

द्रव्यस्वभाव की विशेषता बताते हुए वे उसे शुद्ध, अशुद्ध और उपचरित स्वभाव से रहित बताते हैं; अतः पहले इन्हें जान लेना आवश्यक है।

शुद्ध, अशुद्ध और उपचरित स्वभावों को ग्रहण करनेवाले नयों की चर्चा ‘आलापपद्धति’ में इसप्रकार की गयी है -

“शुद्धद्रव्यार्थिकेन शुद्धस्वभावः, अशुद्धद्रव्यार्थिकेन अशुद्ध-स्वभावः, असद्भूतव्यवहारेणोपचरितस्वभावः।^१

शुद्धद्रव्यार्थिकनय से शुद्धस्वभाव है, अशुद्धद्रव्यार्थिकनय से अशुद्धस्वभाव है और असद्भूतव्यवहारनय से उपचरितस्वभाव है।”

उक्त कथन से यह प्रतीत होता है कि परमस्वभावग्राही द्रव्यार्थिकनय का विषयभूत द्रव्यस्वभाव तीनों प्रकार के शुद्धनयों की विषयभूत शुद्धता

१. आलापपद्धति, पृष्ठ - २२४

(निरपेक्षता), तीनों प्रकार के अशुद्धियों की विषयभूत अशुद्धता (सापेक्षता) एवं असद्भूतव्यवहारनय के विषयभूत संयोगादि से रहित है। सद्भूतव्यवहारनय के भेद भी शुद्ध एवं अशुद्ध के रूप में किये जाते हैं; अतः शुद्ध, अशुद्ध और उपचरित से रहित में सद्भूत एवं असद्भूत दोनों प्रकार के व्यवहारनों का निषेध भी समाहित हो जाता है।

इसप्रकार यह द्रव्यस्वभाव संयोग एवं सापेक्षता-निरपेक्षता के विकल्पों से भी परे परमस्वभावरूप है। परमपारिणामिकभावरूप होने से ही इस द्रव्यस्वभाव का नाम परमभाव पड़ा है।

आचार्य जयसेन के निम्नलिखित कथन से यह बात सहज ही स्पष्ट हो जाती है -

“औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और औदयिकभाव तो पर्यायरूप हैं, एक शुद्ध (परम) पारिणामिकभाव ही द्रव्यरूप है। पदार्थ परस्पर सापेक्ष द्रव्य-पर्यायरूप हैं।

जीवत्व भव्यत्व, अभव्यत्व - इन तीन पारिणामिकभावों में शुद्धजीवत्वशक्तिलक्षणवाला (परम) पारिणामिकभाव शुद्ध (परमभावग्राही) द्रव्यार्थिकनय के आश्रित होने से निरावरण है तथा शुद्ध (परम) पारिणामिकभाव के नाम से जाना जाता है। वह बन्धमोक्षरूप पर्याय से रहित है।”

परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत इस द्रव्यस्वभाव अर्थात् परमस्वभाव की महिमा गाते हुए नयचक्रकार लिखते हैं :-

“एवं पिय परमपदं सारपदं सासणे पठिदं।

एदं पिय थिररूवं लाहो अस्सेव णिव्वाणं ॥”

जिनशासन में इस परमपारिणामिक भाव को ही परमपद और

१. समयसार गाथा ३२० की तात्पर्यवृत्ति टीका

२. द्रव्यस्वभाव प्रकाशक नयचक्र, गाथा ४१३

सारभूत कहा गया है। यही अविनाशी तत्त्व है। इसके लाभ को ही निर्वाण कहते हैं।

सद्भाणणाणचरणं जाव ण जीवस्स परम सब्भावे ।

ता अण्णाणी मूढो संसारमहोदहि भमइ ॥^१

जबतक जीव का अपने इस परमस्वभाव में श्रद्धान, ज्ञान और आचरण नहीं है, तबतक वह मूढ़ अज्ञानी संसार-समुद्र में भटकता है।”

निश्चय-व्यवहार के प्रकरण में जिसे परमशुद्ध निश्चयनय का विषय कहा गया है, वही यहाँ परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय की विषयवस्तु है।

जिसप्रकार निश्चय-व्यवहार के प्रकरण में परमशुद्ध निश्चयनय नयाधिराज है; उसीप्रकार द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय के प्रकरण में परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय नयाधिराज है।

इस गीत में समागत शुद्ध पद का यही स्वरूप है।

अशुद्धि तीन प्रकार की होती है।

१. कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय संबंधी।
२. उत्पाद-व्यय सापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय संबंधी।
३. भेदकल्पना सापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय संबंधी।

इसीप्रकार शुद्धि भी तीन प्रकार की होती है -

१. कर्मोपाधिनिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय संबंधी।
२. उत्पाद-व्यय निरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय संबंधी।
३. भेदकल्पना निरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय संबंधी।

ध्यान रहे इस प्रकरण में कर्मोपाधि, भेदकल्पना और उत्पाद-व्यय से निरपेक्षता ही शुद्धता है और इनसे सापेक्षता ही अशुद्धता है।

१. द्रव्यस्वभाव प्रकाशक नयचक्र गाथा ३७४

शुद्ध, अशुद्ध और उपचार से रहित परमभाव ही मैं हूँ - यही मेरी शुद्धता है।

मैं तो उक्त तीनों प्रकार की अशुद्धियों और इनके अभावरूप शुद्धियों से भी पार परमभावरूप शुद्ध हूँ।

जब मैं कहता हूँ कि मैं शुद्ध हूँ तो उसका अर्थ उक्त परमभावरूप शुद्धता होती है। मेरी यह शुद्धता परमभावरूप है, परमपारणामिक भाव रूप है, परम शुद्धनिश्चयनय के विषयरूप हैं, परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय के विषयरूप हैं।

इस छन्द में अपने आत्मा को शुद्ध कहा जा रहा है, वह उक्त शुद्धियों की विषयवस्तु नहीं है। यहाँ तो परम पारिणामिकभावग्राही द्रव्यार्थिकनय की विषयभूत शुद्धता है।

परमपारिणामिकभावग्राही द्रव्यार्थिकनय की विषयभूत शुद्धता मुझमें है; इसलिये मैं शुद्ध हूँ।

मुझमें कर्मोपाधि निरपेक्षता वाली शुद्धता नहीं, उत्पाद-व्यय निरपेक्षता वाली शुद्धता भी नहीं तथा भेदकल्पना निरपेक्षता वाली शुद्धता भी नहीं है।

मैं तो इन तीनों द्रव्यार्थिकनयों से निरपेक्ष परमभाव रूप हूँ। 'मैं शुद्ध हूँ' का यही अर्थ यहाँ अपेक्षित है।

हमारी आत्मवस्तु का जो अंश (द्रव्यांश) अपरिवर्तनशील है; वह शुद्ध-बुद्ध है, अजर, अमर है, परिपूर्ण है तथा पर्यायांश वर्तमान में अशुद्ध है, विकृत है, अपूर्ण है।

आत्मा को शुद्ध होना नहीं है; वह तो शुद्ध है, त्रिकाल शुद्ध है, सदा शुद्ध है।

यहाँ 'मैं शुद्ध हूँ' का अर्थ यह है कि मैं परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय का विषयभूत परमपदार्थ हूँ, परमशुद्धनिश्चयनय का विषयभूत परम पदार्थ हूँ।

जिसप्रकार यह शुद्ध स्वभाव द्रव्यरूप है; उसीप्रकार बुद्धस्वभाव भी द्रव्यरूप है। बुद्धस्वभाव एक प्रकार से ज्ञानस्वभाव ही है; परन्तु पर्यायरूप ज्ञान नहीं लेना द्रव्यस्वभाव रूप ज्ञान लेना।

ध्यान रहे बुद्ध का अर्थ सम्यक्ज्ञानी नहीं है, केवलज्ञानी भी नहीं है; अपितु इन सबसे भिन्न ज्ञानस्वभावी तत्त्व है। ज्ञान मेरा स्वभाव है। मैं प्रगट होनेवाला ज्ञान नहीं हूँ, मैं तो सदा प्रगट भावरूप ज्ञान हूँ। 'मैं बुद्ध हूँ' का आशय यही है।

मैं सहज ज्ञाता-दृष्टा आत्मराम हूँ। ज्ञान मेरा स्वभाव है, त्रिकाल स्वभाव है। मैं जानने रूप नहीं, जानने के स्वभावरूप हूँ।

यह भगवान आत्मा किसी के भी विरुद्ध नहीं है। यह अविरुद्ध स्वभाव वाला आत्मा एक अर्थात् अखण्ड है, अनन्त गुणों का, असंख्य प्रदेशों का अनादि अनन्त अखण्ड पिण्ड है।

इसप्रकार मैं शुद्ध-बुद्ध हूँ और अविरुद्ध स्वभावी एक अखण्ड तत्त्व हूँ। मैं किसी के भी विरुद्ध नहीं हूँ। विरोध मेरे स्वभाव में ही नहीं है। मैं एक हूँ, अद्वितीय हूँ।

मैं तो बस मैं हूँ, मैं ही हूँ, मेरे अलावा मेरे में कुछ है ही नहीं।

मैं किसी पररूप तो हूँ ही नहीं, पर से प्रभावित होने वाला भी नहीं हूँ; मैं तो एकदम अप्रभावी तत्त्व हूँ। मैं न तो पर से प्रभावित हूँ, न परपरणति से प्रभावित हूँ।

मैं किसी के विरुद्ध भी नहीं हूँ और किसी से प्रभावित भी नहीं हूँ। इसप्रकार मुझसे पर का और पर से मेरा कोई सम्बन्ध है ही नहीं। मैं पूर्णतः स्वतंत्र तत्त्व हूँ, स्वाधीन तत्त्व हूँ।

अब प्रश्न यह है कि ऐसा यह आत्मा प्राप्त कैसे होता है?

इसके उत्तर में कहते हैं कि यह आत्मा आत्मानुभूति से प्राप्त होता है, आत्मानुभूति में प्राप्त होता है।

प्राप्त होने का मतलब यहाँ प्राप्त होने वाला नहीं है; क्योंकि मैं तो स्वयं आत्मा हूँ। जब मैं स्वयं आत्मा हूँ तो फिर उसमें प्राप्त होने का क्या सवाल है?

मैं तो एक प्रकार से प्राप्त ही हूँ। प्राप्त होने का तात्पर्य ज्ञान का ज्ञेय बनना है, श्रद्धान का श्रद्धेय बनना है, ध्यान का ध्येय बनना है, अनुभूति में आना है - इससे अधिक और कुछ नहीं।

उक्त सम्पूर्ण कथन का निष्कर्ष यह है कि - यह 'मैं' अर्थात् दृष्टि का विषयभूत भगवान आत्मा ज्ञान, श्रद्धान, ध्यान रूप अनन्त गुणात्मक अनुभूति का विषय बनता है तो सर्वगुणांश में आह्लाद रूप होता है, सर्व गुणांशों में सम्यक्त्व स्फुरायमान होता है। सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है - इसे ही आत्मा का प्राप्त होना कहते हैं।

इसप्रकार की आत्मानुभूति में प्राप्त होने वाला मैं ज्ञानस्वभावी हूँ, आनन्दस्वभावी हूँ, ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ।

हमारे अन्तर में इसप्रकार का अजपाजाप निरन्तर चलना चाहिये; अभीक्षण ज्ञानोपयोग निरन्तर रहना चाहिये।

ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मतत्त्व की ऐसी अनुभूति सभी आत्मार्थिजनों को शीघ्र प्राप्त हो - इसी मंगल भावना के साथ विराम लेता हूँ।

